

इतिहास, मजहब और मूल्य शिक्षा

□ रोहित धनकर

सर्वोच्च न्यायालय के हाल ही के फैसले ने राष्ट्रीय शिक्षा एवं प्रशिक्षण परिषद, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या तथा पाठ्यपुस्तकों पर जारी बहस को एक महत्वपूर्ण पड़ाव पर पहुंचा दिया है। यहां मैं इस बहस के दो पहलुओं - इतिहास शिक्षण एवं मूल्य शिक्षा- पर कुछ कहने की कोशिश करूंगा। पर उससे पहले एक बात यह कि : लोकतंत्र में सरकार और विभिन्न स्वार्थी वाले गुटों को सही रास्ते पर रखने के लिए समाज में व्यापक चेतना की आवश्यकता होती है। केवल न्यायपालिका या जाग जाने पर विरोध प्रदर्शन नीतियों को जाँच-सिद्ध लोकतांत्रिक रास्ते पर नहीं रख सकते। सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर ज्ञान एवं विचार-विमर्श में रुचि एवं उसके स्तर को बनाये रखना समाज के प्रबुद्ध वर्ग का काम है। यदि शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय पर प्रतिगामी निर्णयों का व्यापक विरोध समाज में नहीं पैदा होता है तो उन्हें रोका नहीं जा सकेगा। अतः रास्ता शिक्षा पर विमर्श को मांजने और समाज में उसके दायरे को फैलाने की तरफ ही जाता है। इतिहास शिक्षण पर राष्ट्र निर्माण का बोझ सदा ही रहा है। कुछ हद तक यही स्थिति दुनिया के अधिकांश देशों में है। भारत और पाकिस्तान के बारे में कृष्ण कुमार अपनी पुस्तक 'प्रेजुडिस एण्ड प्राइड' में बार-बार कहते हैं कि इतिहास-शिक्षण में राष्ट्रीय चेतना के विकास पर एकतरफा जोर देने का परिणाम यह होता है वह विचार-धारा विशेष में बच्चों के चिंतन को जकड़ देने का रूप बन जाता है। इस तरह का इतिहास शिक्षण न तो बच्चों के बौद्धिक विकास में सहायक होता है, न उनको इतिहास को समझने के बौद्धिक उपकरण दे सकता है और न ही उनको अतीत को समझने का कोई विवेक संगत नजरिया दे पाता है।

राष्ट्रीय चेतना का विकास तो बड़ा पवित्र उद्देश्य है। अतः बच्चों के विवेक में घुन लगाकर भी उसका कथित विकास हो तो इस पर सवाल उठाने वालों की बात कोई नहीं सुनता। पर साथ ही इस आस्था-मंडित इतिहास शिक्षण से होने वाले अन्य दुष्परिणामों की भी हमें अनदेखी करनी पड़ती है। विवेक संगत नजरिये का अभाव सीखने वाले की अस्मिता को उसके द्वारा सीखे गये आस्था-मंडित इतिहास से बहुत जकड़ कर बांध देता है। उसे अपने तबके का चयनित इतिहास लगभग इसी जीवन का हिस्सा-सा लगने लगता है। इतिहास की दुनियां अपने-परायों में बंट जाती है। अपने तबके के इतिहास पुरुषों का शौर्य अपना शौर्य लगता है, उनका अपमान अपना अपमान। यह विवेकहीन रुग्ण मानसिकता है जो मानव के अपने समाज, परिवेश और सामाजिक-सांस्कृतिक अतीत से रिश्तों की नासमझी का परिणाम है।

हालांकि सर्वोच्च न्यायालय ऐतिहासिक रूप से गलत वक्तव्यों को ही पुस्तकों से हटाने की बात करता है पर जब इतिहास शिक्षण विभिन्न समुदायों की वर्तमान छवि को मंडित करने का साधन बनाया जायेगा तो सत्य भी इस प्रवृत्ति का शिकार होगा ही। अतः जाट भरतपुर के इतिहास को धो-पोंछ कर चमकाना चाहेंगे। उन्हें जाटों के द्वारा लूटपाट के उल्लेखों को पुस्तकों से हटा देना जरूरी लगेगा। इसी तरह सिखों को गुरु के बारे में परेशान करने वाले तथ्यों को छुपाना होगा और बुद्धिहीन-हिन्दुत्ववादियों को गाय का मांस खाने के जिक्र से परेशानी होगी। क्योंकि इतिहास को समझने के, तथ्यों की जांच के बौद्धिक उपकरण इन्हें उपलब्ध नहीं होते, अतः इन तथ्यों पर शोध करके उन्हें बौद्धिक स्तर पर चुनौती देना भी ऐसे लोगों के लिए संभव नहीं होता। विवेकहीन विरोध तो शोरगुल वाले आंदोलन और उपद्रव से ही संभव होता है। इसकी

मिसाल हाल के राजस्थान के समाचार पत्रों में छपी खबर है । राजस्थान विश्वविद्यालय में जाट छात्रों ने इसलिए तोड़-फोड़ की कि किसी प्राचार्य ने राजा सूरजमल के बारे में ऐसी टिप्पणी कर दी जो उन्हें पसंद नहीं आई । अब इन छात्रों के पास राजा सूरजमल पर शोध करके उस टिप्पणी को चुनौती देने की काबिलियत तो थी नहीं । अपने आपको वे अपने समुदाय के इतिहास से बांध चुके थे । तो डण्डा चलाने के अलावा उनके पास रास्ता क्या था ? आस्थामूलक इतिहास शिक्षण से राष्ट्रीय चेतना विकसित करने का प्रयास अंत में राष्ट्रीय चेतना को खण्ड-खण्ड कर जाति-वादी आत्मवंचक छवि गढ़ने पर जाकर रुके तो आश्चर्य क्या है ? एनसीईआरटी की इतिहास शिक्षण नीति चालू रही तो ऐसी घटनाओं का बार-बार खबर बनना लाजमी है ।

चालू बहस का एक और महत्वपूर्ण मुद्दा है, मजहब को मूल्यों के शिक्षण का आधार बनाने का । यह आम धारणा है कि सभी मजहब मूलतः एक ही बात कहते हैं, वह मूल बात नैतिक दृष्टि से अच्छी ही होती है, और यह कि मजहब मूल्य शिक्षण का एक बहुत अच्छा आधार बन सकता है । एनसीईआरटी की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या भी इस धारणा की शिकार है । धारणा के दो पहलुओं पर यहां विचार करेंगे : एक, कि सभी मजहब मूलतः एक ही बात कहते हैं, तथा दो, कि मजहब मूल्य शिक्षण का अच्छा आधार बन सकता है ।

किसी भी मजहब के कम से कम दो स्वरूप होते हैं । एक उसका शास्त्रों में वर्णित स्वरूप तथा दूसरा उसके मानने वालों के व्यवहार में चरितार्थ होने वाला स्वरूप । व्यवहार में चरितार्थ होने वाला स्वरूप स्थानीय परिवेश, संस्कृति, आर्थिक परिस्थितियों आदि विभिन्न चीजों का परिणाम होता है । उसकी प्रमाणिकता जांचने के लिए बार-बार शास्त्रों का ही हवाला दिया जाता है ।

अतः यहां हम शास्त्रीय स्वरूप पर ही विचार करेंगे ।

इस विवेचना में हम चार चीजों पर विचार करेंगे । एक, क्या सभी धर्म ईश्वर के बारे में एक ही बात कहते हैं ? दो, क्या सभी की नैतिकता के आधार को लेकर एक ही मान्यता है ? तीन, क्या सभी के मूल्यों में पूर्ण सहमति है ? तथा चार, मजहब का मूल्य शिक्षण के आधार के रूप में औचित्य ।

यह कहना आम बात है कि ईश्वर तो एक ही है उसे लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं । हम यह कह कर समन्वय का सुख तो बटोर सकते हैं पर थोड़ा भी गहराई से विचार करें तो इस कथन को गलत पाते हैं । यदि हम हिन्दूओं में व्यापक तौर पर प्रचलित विश्वास, इस्लाम के विश्वास और ईसाइयत की धारणा की तुलना करके देखें तो बात साफ हो जायेगी । इस्लाम और ईसाइयत केवल एक ही ईश्वर को मानते हैं । बहुत से हिन्दू भी विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति के बावजूद यह मान लेंगे कि ईश्वर तो एक ही है, ये देवी-देवता तो उसके विभिन्न रूप हैं । ऊपर से एक लगने वाली ये बातें बहुत भिन्न हैं । ए.एल. बशम¹ के अनुसार इस्लाम और ईसाइयत का ऐकेश्वरवाद अन्य संभावित ईश्वरों को नकराने से आता है और हिन्दुओं का ऐकेश्वरवाद सभी को स्वीकार कर एक मान लेने से आता है । इस बात के समझने के लिए हम तीन उद्धरण लेते हैं ।

बाइबिल में ईश्वर कहता है, “कि मैं तेरा परमेश्वर यहोवा हूं, जो तुझे दासत्व के घर अर्थात् मिस्र देश से निकाल लाया है । तू मुझे छोड़ दूसरों को ईश्वर करके न मानना । तू अपने लिये कोई मूर्ति खोदकर न बनाना, न किसी कि प्रतिमा बनाना, जो आकाश में, वा पृथ्वी पर, वा पृथ्वी के जल में है । तू उनको दण्डवत न करना, और न उनकी उपासना करना; क्योंकि मैं

1. हिन्दूज्म, दि कन्साइज साइक्लोपीडिया ऑफ लिविंग फेथस् में, पृष्ठ 225 । संपादक आर. सी. जाएनर, हटचिंसन ऑफ लंदन ।

तेरा परमेश्वर यहोवा जलन रखने वाला ईश्वर हूँ, और जो मुझ से बैर रखते हैं, उनके बेटों, पोतों, और परपोतों को भी पितरों का दण्ड दिया करता हूँ, और जो मुझ से प्रेम रखते और मेरी आज्ञाओं को मानते हैं, उन हजारों पर करुणा किया करता हूँ ।” बाइबल, निर्गमन, 20:1-6.

इसी तरह कुरान का ईश्वर कहता है, “तुम्हारे लिए इबराहिम और उन लोगों में जो उसके साथ थे एक अच्छा आदर्श मौजूद है, जबकि उन्होंने अपनी जातिवालों से कहा : हम तुमसे और अल्लाह के सिवा जिसे तुम पूजते हो उससे अलग हैं । हम तुम्हें नहीं मानते । और हमारे और तुम्हारे बीच सदा के लिए शत्रुता और विद्वेष प्रकट हो गया है जब तक कि तुम अकेले अल्लाह पर ‘ईमान’ न लाओ । ... (60:4), (कुरआन मजीद, मुहम्मद फारुख खां, मकतब अल-हसनात, देहली ।)

यहां ईश्वर अन्य किसी की इबादत करने एवं अन्य किसी पर ईमान लाने से मना करता है । वह अकेला ही इबादत के काबिल है । यह एक प्रकार का एकेश्वरवाद है । दूसरी तरह का एकेश्वरवाद गीता का है । वहां कृष्ण कहता है (VII : 21-22) “जो कोई भक्त श्रद्धापूर्वक जिस भी रूप की पूजा करना चाहता है, मैं उस-उस रूप में उसकी श्रद्धा को अचल बना देता हूँ । उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उसकी आराधना करना चाहता है, और उससे ही वह अपने वांछित फल प्राप्त करता है, जबकि वस्तुतः वह फल मैं ही देता हूँ ।” (भगवद्गीता, डा. सर्वपल्लि राधाकृष्णन, सरस्वती विहार; दिल्ली)

इसी तरह मनुष्य की प्रकृति के बारे में भी मतभेद हैं । इस्लाम और ईसाइयत में जहां मनुष्य शरीर और आत्मा दोनों से मिलकर बनता है, केवल आत्मा आधा ही मनुष्य है । यह जीवन उसके लिए केवल एक ही अवसर है अपने ईमान को प्रमाणित करने का, ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का । वहीं सभी भारतीय धर्मों में मनुष्य मूलतः आत्मा है । बार-बार जन्म लेता है और इस चक्कर से छुटकारा चाहता है ।

इन भेदों के चलते स्वभाविक है कि नैतिकता के आधार भी भिन्न होंगे । ईसाइयत व इस्लाम में ईश्वर की आज्ञा ही नैतिकता का एक मात्र और अंतिम आधार है । ईश्वर ने कहा कि युद्ध में बन्दी बना कर बेच सकते हो तो यह नैतिक है, उसने कहा सूद नहीं ले सकते तो यह अनैतिक है । वह चाहता तो उल्टा भी कह सकता था । तब सूद लेना नैतिक हो जाता और युद्ध में गुलाम बनाना अनैतिक । क्या नैतिक रूप से जायज हो और क्या नाजायज यह पूरी तरह से उसकी मरजी पर निर्भर करता है । दूसरी तरफ बौद्ध धर्म है । जहां ईश्वर है ही नहीं । यदि वहां भी नैतिकता का आधार ईश्वर की मर्जी होती तो बौद्धों के लिए तो नैतिकता का सवाल ही नहीं उठता । पर वहां नैतिकता का आधार करुणा है । अधिकतर हिन्दुओं के लिए भी नैतिकता ईश्वर की मर्जी का मामला नहीं है । यह अलग बात है कि वहां स्थिति खूब उलझी पुलझी है और लगभग हर कर्म को परिस्थिति विशेष में नैतिक रूप से उचित ठहराने के लिए कहानियां उपलब्ध हैं । यदि गीता की बात करें तो दूसरे के हित के विचार तथा निष्काम भाव से किये गये कर्म-फल के चक्र में नहीं बांधते । क्योंकि जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना ही जीवन का परम ध्येय माना जाता है । अतः सामान्यतौर पर कह सकते हैं कि वे कर्म नैतिक दृष्टि से उचित हैं जो मोक्ष प्राप्ति में मददगार हों । वे नैतिक दृष्टि से अनुचित जो उसमें बाधा पहुंचायें । पर कौन से कर्म मददगार होंगे व कौन से बाधक इसके लिए ईश्वर की तरफ से कोई निर्देश नहीं है । बल्कि यह कर्म-फल के सिद्धांत पर आधारित है और कर्मफल का सिद्धांत अपने चरम रूप में लगभग भौतिक सिद्धांत बन जाता है ।

तो जहां तक विविध धर्मों में ईश्वर की धारणा, मनुष्य की धारणा एवं नैतिकता के आधार का सवाल है वहां तक तो केवल भेद ही नहीं विरोध भी है । पर सभी मजहबों के सार को एक

मानने वालों पर इन बातों का कोई असर नहीं होता । वे कहेंगे कि ये तो उनकी मान्यताये हैं, इन से क्या फर्क पड़ता है । दुनिया में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिये, इस बारे में तो सब एक ही सीख देते हैं । सत्य बोलना सभी सिखाते हैं, ईमानदारी सभी सिखाते हैं, आदि आदि ।

एक हद तक यह बात ठीक भी है । अपने मजहब के मानने वालों के बीच सभी मजहब सच्चाई, ईमानदारी, करुणा आदि की बात करते हैं । पर इसमें कई समस्यायें हैं । यहां केवल दो प्रमुख समस्याओं की बात करेंगे । एक यह कि सामाजिक जीवन में नैतिकता का प्रश्न आपसी व्यवहार में उठता है । मित्रता, व्यापार, परिवार में आपसी संबंध, शादी-विवाह, खानपान, आदि-आदि । जब सच्चाई, ईमानदारी, आदि बड़े सिद्धांतों को व्यवहार में लाने की बात आती है तो विभिन्न नियम कायदे उन का रूप बदल देते हैं । आत्मवत् सर्व भूतेषु मानने वाले हिन्दुओं में मनुस्मृति मनुष्यों को इतनी जातियों में बांटती है कि यह विभाजन बेवकूफी लगने लगता है । और फिर हर एक के लिए बेहद गैर-बराबरी वाला व्यवहार तजबीज करती है । एक पंक्ति में नमाज पढ़ने का आदेश देने वाला कुरान औरतों और गैर-मजहब वालों को कमतर मानता है । खान-पान में भी इसी तरह विभिन्न सलाह मिलती है विभिन्न मजहबों से । ये सब मूल्यों से संबंधित प्रश्न हैं । और जीवन में मूल्यों को चरितार्थ करने में महत्वपूर्ण भी । कुछ समानताओं में समानता देख कर बाकी सब की अनदेखी करने से मूल्य शिक्षण की समस्या हल नहीं हो जाती ।

एक और बड़ी समस्या है, वह है : मजहब-निरपेक्षता सांस्कृतिक विविधता का सम्मान, लोकतंत्र, व्यक्ति की स्वायत्तता, आदि मूल्यों को बढ़ावा देने वाली वैचारिक पृष्ठभूमि कोई भी मजहब तैयार नहीं करता । बल्कि सभी इन मूल्यों के विरुद्ध काम करते हैं । ऐसी स्थिति में इस आधार पर मूल्यों का शिक्षण करना कि सभी मजहब एक ही बात कहते हैं एकदम अनुचित होगा । क्योंकि, यह बच्चों को आंख मूंद कर विरोधी बातों को एक साथ मानना सिखायेगा । क्योंकि यह स्व-विवेक को तिलांजलि देना सिखायेगा । क्योंकि यह बच्चों के विकसित होते नैतिक-बोध से एक मात्र पुख्ता आधार विवेक और संवेदना को छीन कर वहां धुंधली एवं संदिग्ध आस्था की स्थापना कर देगा । हमें इस सब से अपने बच्चों को बचाना होगा । ♦